पुनर्मुद्रण

" ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी "

ऋतम्भरा

योग की त्रैमासिक पत्रिका

"गीतोक्त समत्व :
एक संकलपनात्मक अध्ययन"

डॉ. बी. आर. शर्मा, शोधाधिकारी

दार्शनिक साहित्यानुसंधान विभाग कैवल्यधाम, लोणावला, (पूना).

जुलाई १९९०

वर्ष ३ अंक ३

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३, पुणे

महाराष्ट्र (भारत)

"गीतोक्त समत्व : एक संकल्पनात्मक अध्ययन"

डॉ. बी. आर. शर्मा
शोधाधिकारी
दार्शनिक साहित्यानुसंधान विभाग
कैवल्यधाम, लोणावला, (पूना).

किसी भाव, विचार या अनुभूति की अभिव्यक्ति का नाम ही सकल्पना है। मनुष्य की ज्ञानपिपासा की प्रवृत्ति ही समस्त संकल्पनाओं की जननी है। मानवसृष्टि के प्रारम्भिक एवं आधुनिक इतिहास को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों के क्षेत्र में भिन्न–भिन्न रूचियाँ रखता है किन्तु कुछ बातों में उस की रूचियों में अत्यन्त एकता नजर आती है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी सुव्यवस्था चाहता है, जिस से वह हमेशा आनन्दमय बना रहे। इस आनन्दमय बने रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर सभी देशों के बुद्धिजीवियों तथा तत्ववेत्ताओं ने मानव जाति के कल्याण के लिए अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों के आधारपर अनेक संकल्पनाओं को जन्म दिया है, जिन के मूल रहस्य को समझे विना उन की महत्ता या उपयोगिता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर गीता में प्रतिपादित 'समत्व' की संकल्पना को अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

अपने विषय की चर्चा प्रारम्भ करने से पूर्व यह जान लेना उचित होगा किसी भी संकल्पना के रहस्य को समझने के मापदण्ड

गया है? जिन के आधार पर उस संकल्पना के स्वरूप का रहस्योद्घाटन किया जा सके । जैसे–

१. किसी भी अनुभूति या भाव को प्रकट करने का साधन शब्द हैं, अतः संकल्पना के प्रतिपादक शब्द के मूल अर्थ को समझना आवश्यक होगा ।

२. उस शब्द का सन्दर्भित अर्थ जानना आवश्यक होता है क्योंकि प्रत्येक शब्द सन्दर्भ विशेष में अपना विशिष्ट अर्थ लिए रहता है ।

३. उस शब्द के समानार्थी अर्थात् समान भावों का प्रतिपादन करने वाले शब्दों का अध्ययन ।

४. असमानता रखने वाले भावों का विचार, जिन से अनुसन्धेय संकल्पना का स्वरूप स्पष्ट किया जा सके ।

५. संकल्पना की शास्त्रीय परम्परा ।

६. उपर्युक्त पाँचों तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष ।

संकल्पनात्मक अध्ययन की उपर्युक्त पद्धति के आधार पर 'समत्व' शब्द के मूल अर्थ की मीमांसा करें तो समत्व में सम् धातु 'व्यवस्थित होने' अर्थ में प्रयुक्त है, जिस में अच् प्रत्यय से निष्पन्न 'सम' शब्द विशेषणार्थी है । इस सम शब्द के साथ भाव में तल एवं त्व प्रत्यय से समता या समत्व शब्द बने हैं । जिनका सामान्य अर्थ है 'एक सा पन', एकरुपता, समानता, निष्पक्षता, या सन्तुलन आदि ।

अब 'समत्व' के सन्दर्भित अर्थ पर विचार किया जाए तो किसी भी सन्दर्भ विशेष का तात्पर्य जानने के लिए भारत की शास्त्रीय परम्परा में सात साधनों का उल्लेख मिलता है जैसे– उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्वता अर्थवाद एवं उपपत्ति । यहां सर्वप्रथम इन सातों साधनों के विषय में विचार करना उपयुक्त लगता हैं । जिस से इन साधनों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध हो जाएगी ।

ग्रन्थकर्ता अपने मन के भाव या अनुभूति को प्रकट करने के लिए ही ग्रन्थ लिखता है तथा उसके पूर्ण होनेपर ग्रन्थ की समाप्ति या उपसंहार करता है । इस लिए ग्रन्थ का उपक्रम एवं उपसंहार पहले जान लेना चाहिए । अभ्यास-- ग्रन्थकर्ता के मन में जिस भाव को सिद्ध करने की इच्छा होती है, उसके समर्थन में अनेकवार कई कारणों का उल्लेख करके वार२ अपने सिद्धान्त वाक्य का प्रयोग करता है इसी को अभ्यास कहा जाता है । अपूर्वता का अर्थ है नवीनता । ग्रन्थ कर्त्ता अपना एक विशेष वक्तव्य रखता है उसी को प्रकट करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसी का वार२ अभ्यास अर्थात् उल्लेख करता है । तत्पश्चात् उस के फलपर विचार किया जाता है कि उस ग्रन्थ के लेखन का परिणाम क्या हुआ । अर्थवाद को आनुषङ्गिक भी कहा जाता है । ग्रन्थकर्त्ता अपने भाव को सिद्ध करने के लिए पूर्व इतिास के उदाहरण एवं अपने कथ्य की प्रशंसा के लिए अलंकार–अतिशयोक्ति युक्त वाक्यों का प्रयोग करता है । इसी लिए मोमांसक इसे अर्थवाद कहते हैं । उपपत्ति–तर्कशास्त्र के अनुसार उपपत्ति का अर्थ है मण्डन करना । इसी को उत्पादन भी कहा जाता है । ग्रन्थकर्त्ता अपने कथ्य को पुष्ट करनेवाले साधक प्रमाणों का मण्डन एवं वाधक प्रमाणों का खण्डन करता है । यह अर्थवाद एवं उपपत्ति उस उपक्रम एवं उपसंहार के बीच का मार्ग है । इस प्रकार ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय एवं सन्दर्भ विशेष के तात्पर्य का निर्णय किया जाता है इन्हो तथ्यों के आधार पर गीता के प्रतिपाद्य विषय एवं 'समत्व' के सन्दर्भ का निर्णय करें तो अर्जुन ममत्व के वशीभूत किंकर्तव्यविमूढ होकर कर्मसंन्यास लेने के लिए तैयार हो गया । यही गीता का उपक्रम है । अन्त में भी (18-72) श्रीकृष्ण के पूछे जाने पर कि तुम्हारा कर्तव्याकर्तव्य विषयक मोह खत्म हुआ या नहीं यह उपसंहार है । ग्रन्थ में वार २ एक ही वात पर वल दिया गया है कि 'योगस्थ:कुरूकर्माणि' (गी. 2-48), 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (2/47), 'कुरुकर्मैव तस्मात्त्वम्' (4-15), 'तस्मात्, युध्यस्व भारत' (2-18), 'तस्मादुतिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय:' (2-37), 'तस्मादसक्त: सततंकार्यंकर्मसमाचर' (3-19), 'मामनुस्मरयुध्यच' (8-7),

'यज्ञार्थ कर्म कर' (3–9), अन्त में अपने निश्चितमत को फिर प्रकट किया है 'इन सब कर्मों को करना चाहिए (18–6) इत्यादि पुनरावृत्ति अभ्यास है । 'नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा' (18–72) अर्जुन की मोह निवृत्ति एवं कर्म में प्रवृत्ति फल है । अर्जुन को राजाजनक का उदाहरण (3–20) स्थितप्रज्ञ का (2–55) नेहात्रिक्रमनाशोऽस्ति (2.40) अर्थात् समत्व बुद्धिसे किया गया कर्म महानेभय से बचाता है । यह प्रशंसात्मक वाक्य अर्थवादात्मक कहे जाएँगे । 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविश्चितः' (2.42) 'कामात्मानः स्वर्गपराः' (2.43) तं मुक्त्वा स्वर्गलोकंविशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (9–21) इत्यादि वाक्यों से कर्तृत्वाभिमान पूर्वक किए गये सकाम कर्म का खण्डन एवं समभाव में स्थिर होकर किए गये कर्म बन्धन के कारण नहीं होते अपितु 'पद्मपत्रभिवाम्भसा (5–10) के दृष्टान्त उपपत्ति ही है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अर्जुन क्षात्रधर्म के अनुरूप युद्ध के लिए तैयार था किन्तु युद्धक्षेत्र में स्वकीय एवं परकीय भाव के वशीभूत हुआ अर्थात् अहंभाव के कारण विषम अवस्था को प्राप्त हुआ । तब श्रीकृष्ण उसे उस विषम अवस्था से उभारने के लिए समत्व रूप योग का उपदेश देते है तथा बार२ इस बात पर बल दिया कि 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते' (13–1) अर्थात् यह शरीर कर्म क्षेत्र है । इस शरीर के रहते मनुष्य एकक्षण भी कर्म किए विना नहीं रह सकता (3–5) । इस लिए 'योगस्थ' होकर अर्थात् समत्वरूप योग का अवलम्बन कर युद्धरूप कर्तव्य कर्म करना ही श्रेष्ठ है । यही इस ग्रन्थ की अपूर्वता है एवं यही हमारे अध्ययन का विषय है । अब प्रश्न उठता है कि जिस योग में स्थित होकर कर्म करने की प्रेरणा दी उसका स्वरूप क्या है ?

सामान्यरूप से योग शब्द युज् धातु से करणार्थक एवं भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, जिस का अर्थ है जोडना या मिलन। अमरकोश में योग के संहनन, उपाय, ध्यान, संगति एवं युक्ति आदि

अनेक पर्याय है । (योगः संहननोपायध्यानसंगति युक्तिषु) जिन का प्रयोग भी भिन्न२ मिलता है । जैसे कवच पहनकर हथियारों से सुसज्जित होकर युद्ध के लिए उद्यत होना संहननयोग, आयुर्वेद में रोग को दूर करने वाले योग को उपाय रूप में, मन को एकाग्र करके समाधि में बैठ जाना ध्यानयोग, दो वस्तुओं के मिलन या संगम को संगति तथा युक्ति का अर्थ उपाय या तर्क हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में 'समत्वं योगः' (2–48) कहा गया । यहां समत्व के भाव को समझ लेना आवश्यक होगा । जैसा कि सामान्य विश्लेषण के सन्दर्भ में 'सम' शब्द विशेषण अर्थ में प्रयुक्त कहा गया है । गीता में सम शब्द किस का विशेषण हो सकता है ? जिस का निर्णय स्वयं गीताकार ने 'समंहि निर्दोषं ब्रह्म' (5–19) अर्थात् ब्रह्मरूप परमात्मा ही सम एवं निर्दोष है, वाक्य से किया गया । विष्णुसहस्रनाम में 'वसुर्वसु-मनःसत्यःसमात्मासंमितःसमः' सम विष्णु का वाचक है । इन तथ्यों के आधारपर स्पष्ट होता है कि सम ब्रह्म या ईश्वर का वाचक है । 'समस्य भावः समत्वम्' उस सम के भाव में बुद्धि को स्थिर करना ही समत्व योग है । अर्थात् ईश्वर के भाव में बुद्धि को स्थिर रख-कर कर्तव्यकर्मों में फल की आसक्ति का त्यागकर कर्म करने को ही 'योगस्थ' होना कहा है । इसी को समत्व योग या निष्काम कर्मयोग कहा जाता है । यह सम भाव या निष्कामभाव तबतक नहीं आ सकता जब तक व्यक्ति भौतिक आकर्षण से निर्लिप्त नहीं रहता । उक्त आकर्षण का मुख्य कारण है उस के कर्त्तापन का भान । जिस के कारण व्यक्ति राग द्वेष, सुख दुःख हानिलाभ आदि द्वन्द्वों से ऊपर नहीं उठ पाता । इस लिए 'सङ्गंत्यक्त्वा' अर्थात् कर्त्तापन के भाव का एवं कर्म फल की इच्छा का त्यागकर कर्तव्यबुद्धिसे कर्मों का सम्पादन करते हुए 'सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा' अर्थात् कर्मफल के रूप में होनेवाली सिद्धि अर्थात् अनुकूलता असिद्धि अर्थात् प्रतिकूलता (यहां सिद्धि असिद्धि से सभी सांसारिक द्वन्द्वों का ग्रहण समझना चाहिए) आदि द्वन्द्वों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता । उन्हें समान भाव से ही ग्रहण करता है इसी को समत्वयोग कहा गया है । गीता में इस 'समभाव' को अनेक स्थानों पर व्यक्त किया गया है जैसे

(2-38,2-48) सुख दुःख हानि लाभ जय पराजय सिद्धि असिद्धि आदि समस्त द्वन्द्वों को सम करने, सम मानने एवं सम अनुभव करने का अर्थ है दोनों को ब्रह्म का भाव मानना। यहां ब्रह्मभाव–आत्मभाव या ईश्वरभाव का आशय एक ही है। गीता में बार२ 'समचित्त' (13-9) होना या समबुद्धि (12-4) होने का अभिप्राय है आत्मबुद्धि या ब्रह्मबुद्धि रखना अर्थात् समस्त चराचर जगत जो चिन्तन में आ जाए वह उस ब्रह्म का ही रूप है ऐसा मानते हुए अपने भाव को ब्रह्म में लगाना तथा अन्त में ब्रह्ममय हो जाना इसी को समत्वभाव में स्थित हो जाना कहा गया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'समत्वं योगः' एवं 'योगस्थः कुरु कर्माणि' एक ही योग शब्द साध्य एवं साधन दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ लगता है। 'योजनं योगः' इस विग्रह के अनुसार युज् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न योग शब्द 'जीवात्मा एवं परमात्मा के सम्यग्मिलन रूप साध्यका सूचक है। इसी धातु से करणार्थक घञ् प्रत्यय से 'युज्यते चित्तमनेनेति योगः' इस विग्रह से निष्पन्न योग साधन अर्थात् उपायरूप योग का प्रतिपादक है। इस से स्पष्ट होता है कि गीता में प्रयुक्त 'समत्वं योग': साध्य का सूचक एवं 'योगस्थः कुरु कर्माणि' वाक्य में प्रयुक्त शब्द साधना की सूचना देता हैं। जिसके अन्तर्गत ज्ञानयोग–भक्ति–कर्म आदि का ग्रहण समझना चाहिए। क्यों कि गीता का साध्य तो समता या समत्व ही है। ईश्वर प्राप्ति ब्रह्म-प्राप्ति का भी यही आशय है कि साधक अपनी कर्तृत्वाभिमान की परिधि को छोड़कर वास्तविक रूप से उस परमात्मभाव को प्राप्त होता है। उस समत्व को प्राप्त करने के लिए 'सांसारिक समस्त द्वन्द्वों को समकरना–समहोना, सम अनुभव करना, सम देखना इत्यादि वाक्य ही उस समत्व के साधन रूप है। जैसा साध्य योग के लिए ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग को साधन माना है अतः कहा जा सकता है कि सब योगों का अन्तर्भाव समत्वयोग में ही हो जाता है। उपायों की विविधता का कारण स्पष्ट है कि मनुष्य का स्वभाव बौद्धिक-भावुक एवं कर्मशील भेद से त्रिविध होता है। ये तीनों अंग सभी

मनुष्यों में विद्यमान होने पर भी किसी में किसी अंग का विकास कम और किसी का अधिक होता है। जिस में जिस की प्रधानता होती है, उसी के अनुसार साधक अपनी साधना का प्रारम्भ करता है। तदनुसार ही वह ज्ञानी, भक्त या कर्मयोगी कहलाता है परन्तु अन्ततः मानव प्रकृति के ये सब अंग एकसूत्र में आ जाते है अर्थात् परमभाव में जुड जाते हैं, उसी को समत्व कहा जाता है।

योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने योग को समाधि अर्थ में प्रयुक्त माना है। यहां समाधि शब्द को भी साधन साध्य के रूप में व्यवहृत किया है। समाधि शब्द 'समाधानं समाधि' इस विग्रह के अनुसार भाव में कि प्रत्यय से निष्पन्न साध्य का सूचक तथा यही प्रत्यय जब करणार्थक 'समाधीयते चित्तमनेनेति समाधिः' विग्रह से साधना रूप समाधि का वाचक है। किन्तु प्रसंग के अनुकूल ही इन का अर्थ लिया जाता है। इस से यही तात्पर्य निकलता है कि योग-समाधि एवं समत्व एक ही भाव के प्रतिपादक शब्द है। जिस की पुष्टि स्कन्दपुराण के योगाख्यान में स्पष्ट रूप से की गई है–

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनो।
स नष्ट सर्वसंकल्पः समाधिरित्यभिधीयते ॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागःपरन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥

अर्थात् 'जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का जो समानरूपत्व हैं, वह सर्वसंकल्परहित समाधि कहा जाता है। हे परन्तप। परमात्मा एवं जीवात्मा की जो यह अविभाग रूप समानरूपता है वही परम योग है।

उपनिषदों में (ईशावास्यो 7) इस समत्व के भाव को एकत्व शब्द के माध्यम से व्यक्त किया है। 'तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वम-नुपश्यतः' यहाँ एकत्व शब्द परमात्मा एवं जीवात्मा की एकता का सूचक है। जिस एकता को प्राप्तकर साधक शोक मोह आदि द्वन्द्वों

से ऊपर उठ जाता है। कठोपनिषद् (1–2 · 12) में 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' अर्थात् इस योग को प्राप्त हुआ साधक हर्षशोक से प्रभावित नहीं होता ।

गीता में जीवन्मुक्त वही है जिस का सर्वथा सर्वत्र समभाव है। जहां कहीं भी जीवनमुक्त का वर्णन गीता में आता है वहां समता का ही उल्लेख पाया जाता है । जिस में समता है वही स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः, ज्ञानी, भक्त, योगयुक्त, योगारूढ एवं जीवन्मुक्त है। वह पुरुष सर्वत्र राग-द्वेष,-हानि-लाभ, जयपराजय, शत्रुमित्र, निन्दास्तुति आदि समस्त द्वन्द्वों में ब्रह्मभूत किंवा आत्मभूत हृदय से युक्त हुआ विचलित नहीं होता अपितु परमात्मभाव के संकल्प से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है । व्यवहार में वडी विषमता होने पर भी उस की समबुद्धि में कोई अन्तर नहीं आता । इसी कारण वह विनययुक्त ब्राह्मण में, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से ही देखनेवाला होने पर भी व्यवहार में भेदबुद्धिवालों को विपरीत मार्ग से वचाने के लिए आसक्ति रहित होकर उन की तरह ही न्याय युक्त व्यवहार करता है परन्तु उस स्थिति में किए जाने वाले कर्म उसके वन्धन के कारण नहीं बनते । इसी लिए इस योग को 'कर्मसु कौशलम्' के रूप में भी निखारा गया है । यहां 'कर्मसु कौशलम्' के भाव को भी स्पष्ट कर लेना उचित होगा ।

भारतीय चिन्तनपरम्परा में 'अयं लोकः कर्मबन्धनः', कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके', 'कर्मणःबध्यतेजन्तुः' इत्यादि कथ्यों के आधारपर कर्म ही मनुष्य के बन्धन के कारण माने जाते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि कर्म वन्धन के कारण कैसे हैं। इस समस्या के समाधान के लिए कर्म के रहस्य को समझना होगा । कर्म शब्द कृधातु से बना है जिस का अर्थ हैं– 'करना', हलचल या व्यापार । वह हलचल या व्यापार अपने आप में शुभ–अशुभ का कारण नहीं होता अपितु कर्त्ता के भाव के आधार पर ही कर्म का शुभाशुभ होना निर्भर करता है। इस विश्लेषण से सिद्ध होता है कि 'अहंकरोतीति अहंकारः' अर्थात् मैं करनेवाला

हूँ। इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान भाव से की गई क्रिया ही मनुष्य के बन्धन का कारण सिद्ध होती है। क्योंकि पार्थिव शरीर प्रधान जीवात्मा भौतिक आकर्षण के कारण काम्य कर्मों के कुचक्र में फंस कर स्वतःसिद्ध प्राकृतिक अर्थात् सत्व रज तम गुणों के द्वारा ही यह समस्त क्रियाएँ हो रही हैं।[1] इस भाव को भूलकर अपने आप को कर्त्ता समझने लगता है इस की इस भूल का परिणाम यह होता है कि वह अपने अहंभाव के आवरण से अपने ईश्वर स्वरूप शुद्ध बुद्ध एवं नित्य स्वरूप को भूल जाता है। इसे ही शास्त्रों में अविद्या या अज्ञान कहा जाता है। गीता में[2] (18–18) कर्त्तृत्वाभिमान भाव को ही कर्म बन्धन या कर्म संग्रह का प्रधान हेतु बताया है। जैसा कि पूर्व कहा गया कि प्रत्येक क्रिया का संपादन, कर्त्ता किसी न किसी भाव से प्रेरित होकर करता है। इस लिए गीता में (18–12) उस क्रिया को तीन प्रकार का फल देने वाली कहा है। इष्ट–अनिष्ट एवं इष्टानिष्ट। किन्तु वही क्रिया यदि कर्त्तृत्वाभिमान का त्याग कर अर्थात् निरहंकार पूर्वक ईश्वर भाव में स्थिर होकर की जाए तो बन्धन का कारण नहीं बनती। इसीलिए योग को 'कर्मसु कौशलं' के रूप में निखारा है। भगवान शंकराचार्यने इस कुशलता की व्याख्या- 'तद्धि कौशलं यद्बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्धया स्वभावाद् निवर्तन्ते' अर्थात् इस योग की विशेषता है कि स्वभाव से ही बन्धन कारक कर्म भी समत्वबुद्धि के कारण अपना स्वभाव छोड़ देते है। कर्म करने की इस कुशलता या चतुराई के कारण ही मनुष्य के कर्म अकर्म में एवं अकर्म कर्म में परिणत हो जाते हैं अर्थात् उस समभाव में स्थित होकर की गई हत्या का पाप भी उस के बन्धन का कारण नहीं होता।[3]

गीता में यज्ञ शब्द भी इसी भाव का प्रतिपादक है। 'यज्ञो वै विष्णुः' (तै. सं. 1–7–4) सम यज्ञोहविर्हरिः (विष्णुसहस्रनाम) इन

1 अहंकारविमूढात्माकर्त्ताऽहं इति मन्यते गी. (3–27)

2 करणं कर्म कर्तेति त्रिविधा कर्मचोदना (गी, 18–18)

3 यस्य नाहंकृत्वोभावो बुद्धिर्यस्यन लिप्यते।
हत्वापि इमाल्लोकान्न हन्ति न निवध्यते॥ (गी. 18-17)

तथ्यों के आधार पर यज्ञ को ईश्वर स्वरूप माना हैं, उसके लिए जो कर्म किया जाय वह यज्ञार्थ कर्म कहलाता है। वह कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता। किन्तु वही यज्ञ यदि लौकिक इच्छा से प्रेरित होकर किया जाय तो बन्धन का कारण होता है। इसलिए गीता में उसी को त्यागी कहा है जो कर्मफल का त्याग करता है अर्थात् कर्त्तव्यकर्म के फलरूप सिद्धि–असिद्धि में समत्वबुद्धि के कारण लिप्त नहीं होता अपितु 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रहता हैं। इसी प्रकार प्रकारान्तर से सम्पूर्ण गीता में इसी भाव की स्थापना एवं इस भाव के विपरीत कर्तृत्वाभिमान पूर्वक की गई क्रिया का खण्डन किया हैं जिसे सूत्र रूप में 'ध्यायतो विषयान् पुसंः' (गी.2-62,63) आदि तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है। जबतक मनुष्य में अहंभाव के कारण देहबुद्धि होती है तभी बार२ विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट होता होता है जिस से सङ्गदोष उत्पन्न होता है। जिस के कारण कामना दृढ होती जाती है, जिसे शास्त्रों में वित्तैषणा, पुत्रैषणा या लोकैषणा के नाम से जाना जाता है। जब उन कामनाओं की पूर्ति में बाधा आती है, तब क्रोध रूप दोष की उत्पत्ति होती है, जिस के कारण मोह अधिक घनीभूत हो जाता है तब मनुष्य सोचने लगता है कि अमुक कामना की यदि पूर्ति नहीं हुई तो मैं जीवित नहीं रह सकता। इसी के कारण स्मृति विभ्रम होता है अर्थात् स्मृति भटक जाती है। क्यों कि स्मृति का काम है किसी वस्तु या घटना को यथावत् अङ्कित करना किन्तु राग द्वेषादि के कारण वह स्मृति यथावत् घटना से वंचित रह जाती है। मोह का काम है स्मृति को भटका देना तथा बुद्धि भटकी हुई स्मृति को यथावत् बनाए रखती है इसी को स्मृति भ्रंश कहा जाता है। यही हैं उस बुद्धि नाश के सोपान जिन के कारण मनुष्य काम्य कर्मों के कुचक्र में फंसा रहता है। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने से कर्त्ता भाव के अभिमान से अर्थात् सकामभाव से की गई क्रिया तथा ईश्वरभाव में स्थित बुद्धि से की गई क्रिया का भाव स्पष्ट हो जाता हैं।

अब प्रश्न है इस संकल्पना की शास्त्रीय परम्परा का जिस के लिए कुछ वैदिक तथ्यों को यहां दर्शाया जा रहा है जैसे ऋग्वेद 'समानेन वो हविषा जुहोमि' (ऋ.वे. 10–191–3) समानमस्तु वो मन: (ऋ.वे. 10–191–4) समानं हृदयं कृधि (अर्थव 6–139–30) अर्थात् उस समभाव या ईश्वरभाव को ही हम प्राप्त हों। इसीभाव को शुक्लयजुर्वेद की काण्वशाखा में (40) तथा ईशावास्यो (1,2) में भी व्यक्त किया है "यह समस्त चराचर जो जगत है वह सब ईश्वर से व्याप्त है अत:जिसे जो मिला हैं उस में अनासक्त भाव से उपभोग करने का आदेश दिया है"। इस प्रकार ईश्वरभाव में स्थित होकर किये गये कर्म मनुष्य के बन्धन के कारण नहीं होते 'न कर्म लिप्यते नरे'। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस समत्व की संकल्पना की धारा का प्रवाह वैदिक वाङमय से ही प्रवाहित होता आ रहा है परन्तु गीता में इस संकल्पना को व्यवहारिकता की कसौटी पर कसने का प्रयास किया है तथा सम्पूर्ण मानवजाति को यह सन्देश दिया है कि मनुष्य को कभी भी अपने कर्तव्य से च्युत नही होना चाहिए उसे ईश्वर आज्ञा समझकर कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए। इन सब तथ्यों के आधार पर 'समत्वं योग' यह गीता का स्वतन्त्र सिद्धान्त माना जाता है।

● प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कैवल्यधाम के दार्शनिक–साहित्य–अनुसंधान विभाग द्वारा आयोजित संगोष्ठि में पढा गया था। प्रस्तुत कर्त्ता विशेषरूप से डॉ. म. ल. घरोटे, श्री टी. पी. श्रीकुमारन् तथा उन सभी विद्वानों का आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता है जिन के सुझावों के आधारपर इस प्रबन्ध को संगोष्ठि में रख पाया था।

● ●